

सुपात्र-कुपात्र चर्चा

“तेरह पंथी साधुओं के सिवाय सभी कुपात्र हैं”
यह मानना मिथ्या है।

: प्रणेता : ———

प्रतिवादी मान मईन
श्री मज्जेनाचार्य 1008 पूज्य श्री
गणेशीलालजी महाराज

आद्य सम्पादक .

पं. अम्बिकादत्त ओझा न्या. व्याकरणाचार्य

प्रकाशक

श्री आदिनाथ जैन श्वे. मूर्ति. संघ
कानजी वाड़ी, नवसारी (द. गुज.)

मूल्य 5.00 रु.

तृतीय परिवर्धित संस्करण

प्रति 1000

दो शब्द

इस समय जैन समाज में मुख्य चार फिरके हैं। दिगम्बर, श्वेताम्बर मूर्ति पूजक, स्थानकवासी और तेरहपंथी। दया और दान के विषय में प्रथम के तीन फिरके एक मत हैं। जैनों के उक्त तीन फिरके ही नहीं किन्तु इस समय विश्व में जितने भी मजहब हैं, वे सब इस विषय में एक ही मत हैं। चाहे हिन्दू धर्म हो, चाहे बौद्ध धर्म, चाहे ईसाई, पारसी और इस्लाम धर्म हो सब कोई दुःखियों के दुःख दर्द मिटाने के प्रयत्न को अच्छा समझते हैं। आपत्ति में पड़े हुए की सहायता करने और भूखे को भोजन देने में पाप नहीं मानते।

इस संसार में धर्म की रचना मुक्ति प्राप्त करने के उपरान्त इसलिए भी है कि जन साधारण एक दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य समझे। जो बात हमें इष्ट है वही दूसरों को भी। यदि कोई हमारी सहायता या वक्त पर मदद करता है, तो वह कार्य हमें अच्छा लगता है। ऐसा ही बताव हम दूसरों के लिए भी करें। यह मानवीय कर्तव्य है।

किन्तु प्रिय पाठको ! एक मजहब ऐसा भी है, जो मरते प्राणी की रक्षा करने में और दीन, दुःखी, लूले, लंगड़ों की अन्न वस्त्रादि द्वारा सहायता करने में एकान्त पाप मानता है। मानता वह है जैन श्वेताम्बर तेरह पंथ। इसकी मान्यता है कि संसार में तेरापंथी साधु ही एक मात्र दान लेने के पात्र हैं। इनको देने में एकान्त धर्म और इनके अतिरिक्त किसी भी मनुष्य पशु-पक्षी आदि को कुछ भी खिलाने पिलाने या सहायता करने में एकान्त पाप है।

जो कि जमाने के रुख को देखकर इन लोगों ने भाषा प्रयोग बदल दिया है। जब कोई पूछता है, तो सांसारिक-लौकिक धर्म या कर्तव्य बताते हैं। अत्रती असंयती का रक्षण पोषण करना ये लोग पाप मानते हैं। मरने से बचा हुआ व्यक्ति या हमारे दान से तृप्त व्यक्ति भविष्य में पाप कार्य ही करेगा यह हम कैसे निश्चय कर लें। सम्भव है वह जगत् कल्याण के लिए निकल पड़े। दीक्षा धारण कर ले। हमने शुद्ध मन से सहायता की उसका हमें शुभ फल ही प्राप्त होगा। बचा हुआ प्राणी आगे क्या करेगा, इसकी जिम्मेवारी हम पर नहीं आ सकती। हमारा कर्तव्य तो रक्षा-सहायता करते ही पूरा हो जाता है। इस विषय पर जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी म.सा. ने सुन्दर प्रकाश डाला है।

विनीत : पूर्णचन्द्र दक

जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कुछ काल से तेरह पन्थ नामक एक सम्प्रदाय चल रहा है। बीकानेर जिले के थली प्रदेश व मेवाड़ की ओसवाल जाति में इस सम्प्रदाय का प्रचार बहुत अधिक है। इस सम्प्रदाय को चलाने वाले भीखणजी नामक एक व्यक्ति थे। पाठकों की जानकारी के लिये उनका कुछ परिचय देना आवश्यक है।

मारवाड़ देश में कण्टालिया नामक एक ग्राम है। भीखणजी वहीं के निवासी थे। जाति के ओसवाल थे। इन्होंने सम्वत् 1808 में बाईस सम्प्रदाय के आचार्य पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज से दीक्षा धारण की थी। पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज भीखणजी को मेड़ता शहर में भगवती सूत्र पढ़ा रहे थे। भीखणजी को भगवती की कितनी बातें जँचती और कितनी नहीं जँचती। भीखणजी की यह चेष्टा देखकर श्रावक समर्थमलजी धाड़ीवाल ने पूज्य श्री से निवेदन किया कि आप भीखणजी को भगवती सूत्र पढ़ाकर सर्प को दूध पिला रहे हैं। यह भीखणजी आगे चल कर शास्त्रीय विषय की उलट धारणा रखने के कारण जैन धर्म पर कलंक लगाने जैसी और धर्म की विपरीत प्ररूपणा करेंगे। धाड़ीवालजी का कथन सुनकर पूज्य श्री ने कहा कि- भगवान महावीर स्वामी ने भी गोशालक और जमालि को विद्या पढ़ाई थी। वे आगे चलकर मिहव हुए यह उनके कर्मों का दोष था। पूज्य श्री ने चौमासे भर में भीखणजी को भगवती सूत्र पढ़ा दिया। भीखणजी को भगवती की प्रति वहीं रखकर विहार करने की आज्ञा दी। परंतु भीखणजी ने गुरु की आज्ञा

का उल्लंघन कर भगवती की प्रति वहां नहीं रखी। उसे लेकर विहार कर गये। यह समाचार पाकर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज ने दो शिष्यों को भेजकर भीखणजी से वह भगवती की प्रति मँगा ली। गुरुजी का इस प्रकार अपने पर अविश्वास का व्यवहार भीखणजी को सहन नहीं हुआ और उन्होंने एक नवीन-मत निकालकर गुरुजी को नीचा दिखाने का दृढ़ संकल्प किया।

मेवाड़ के राजनगर नामक ग्राम में भीखणजी का उस वर्ष चतुर्मास हुआ। वहीं उन्होंने अपने पूर्व संकल्पित मत की स्थापना करने के उद्देश्य से मानवता के और शास्त्र के विरुद्ध प्ररूपणा आरम्भ कर दी।

मान्यताओं के कुछ नमूने

1. अग्नि में जलते हुए जीव की रक्षा करना एकान्त पाप है।
2. कूप में गिरते हुए प्राणियों की रक्षा करना एकान्त पाप है।
3. तालाब में डूबते हुए प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप है।
4. किसी ऊँचे स्थान से गिरते हुए प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप है।
5. जीवों की शान्ति के लिए धर्म का उपदेश करना जैन धर्म का सिद्धान्त नहीं है। अन्य तीर्थियों की यह मान्यता है। अतः जो जैन होकर जीवों की शान्ति के लिए धर्म का उपदेश करना अपना कर्तव्य मानता है, वह जैन धर्म का रहस्य नहीं जानता है। उसकी बुद्धि अशुभ कर्म का उदय होने से भ्रष्ट समझनी चाहिये।

6. अपनी सम्प्रदाय के (तेरापंथी) साधुओं के सिखाय समस्त प्राणी कुपात्र हैं, पांपी हैं। उनको दान देना तथा किसी प्रकार की उन्हें सहायता देना, उनका विनय करना, माँस भक्षण और व्यसन-कुशील सेवन के समान एकान्त पाप है।

7. भगवान महावीर स्वामी ने तेजोलेश्या से जलते हुए गोशालक की रक्षा की थी। यह उनकी भूल थी। वे छद्मस्थ होने के कारण चूक गये थे।

इस प्रकार बहुत सी बातें भीखणजी ने कही जो मानवता और शास्त्र से विरुद्ध हैं। उनके ग्रन्थों में जगह-जगह वे बातें लिखी हैं। अतः यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है। उस समय पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज का चातुर्मास सोजत में था। भीखणजी की उक्त प्ररूपणा सुनकर पूज्य श्री के चित्त में बड़ा ही कष्ट हुआ। चातुर्मास समाप्त होते ही भीखणजी पूज्य श्री के पास आये। परन्तु पूज्य श्री के चित्त में विपरीत प्ररूपणा के कारण भीखणजी के प्रति पूर्व भावना में अंतर आ गया था। इसलिए उन्होंने भीखणजी का आदर सत्कार नहीं किया और शामिल में आहार पानी भी नहीं रखा। यह देखकर भीखणजी ने पूज्य श्री से पूछा कि मेरे साथ आहार आदि न करने का क्या कारण है? पूज्य श्री ने कहा कि-तुमने शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की है, आहार पानी पृथक् करने का यही कारण है। इसके बाद पूज्य श्री ने उन्हें समझाया और छ मास का प्रायश्चित्त देकर आहार पानी शामिल कर लिया। पूज्य श्री ने भीखणजी से

कहा कि राजनगर के श्रावकों की श्रद्धा तुम्हीने विपरीत की है। इसलिए वह तुमसे ही सुधर सकती है। तुम वहां जाकर उन्हें समझा दो। भीखणजी ने गुरु की आज्ञा स्वीकार की और वहां के श्रावकों की श्रद्धा को शुद्ध करने राजनगर आये। परन्तु भीखणजी के साथियों ने भीखणजी को वैसा करने से मना कर दिया और उन्हें अपने सिद्धान्त पर डटे रहने की राय दी। भीखणजी गुरु पर तो नाराज थे ही उन्हें साथियों की बातें अच्छी मालूम हुई और उन्होंने उन श्रावकों को ऐसा कुछ भी उपदेश नहीं किया जिससे उनकी श्रद्धा ठीक होती। बल्कि अपनी पूर्व प्ररूपणा की ही पुष्टि की। इस प्रकार भीखणजी ने गुरु की आज्ञा का फिर से उल्लंघन किया। इसके पश्चात भीखणजी बगड़ी गांव में जब अपने गुरु से मिले तो अपने दुराग्रह पर धृष्टता पूर्वक डटे रहे। गुरु के आदेश की कोई परवाह नहीं की। तब सम्वत् 1815 चैत सुदी नवमी शुक्रवार के दिन पूज्य श्री ने गोशालक का दृष्टान्त देकर भीखणजी को गच्छ से बाहर कर दिया।

पूज्यश्री से गच्छ बाहर किये हुए भीखणजी आदि तेरह जनों ने मिलकर तेरहपन्थ नामक एक शास्त्र विरुद्ध नूतन मत चलाया। ढालें तथा सिद्धान्त की हुण्डी आदि पुस्तकें लिखी। उनमें अपने मिथ्या सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया।

भीखणजी के चौथे पाट पर जीतमलजी नाम के एक आचार्य हुए। इन्होंने भ्रम विध्वंसन नामक ग्रन्थ रचकर भीखणजी की उक्तियों का पोषण किया जो शास्त्रों और युक्तियों से सर्वथा

प्रतिकूल है। इस ग्रन्थ का खण्डन समर्थ जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज ने सद्धर्म मण्डन नामक ग्रन्थ से किया है जिसमें शास्त्रों के मूलपाठ देकर भीखणजी की उक्तियों को शास्त्र विरुद्ध सिद्ध किया है तथा अनुकम्पा विचार नामक पुस्तक में पूज्य श्री ने ढालों में ही भीखणजी की ढालों का खण्डन किया है। वे दोनों पुस्तकें प्रकाशित हैं। विशेष बातें उन ग्रन्थों में लिखी जा चुकी हैं। अतः यहां उन्हें लिखने की आवश्यकता नहीं है।

तेरह पन्थी अपने साधुओं के सिवाय समस्त प्राणियों को कुपात्र मान कर उनके दान, सम्मान, विनय, उपकार आदि का निषेध किया करते हैं। उनको देने में एकान्त पाप बताते हैं। जिससे गृहस्थ जीवन में माता-पिता आदि गुरुजन का विनय करना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना तथा दीन दुःखी और आर्तप्राणी की रक्षा करना आदि मानव धर्म एवं नीति धर्म को एकान्त पाप ठहराते हैं।

अंधे, लूले, लंगड़े, अपंग अपाहिज, प्रकृति के प्रकोप से पीड़ित, राजनैतिक कारण से त्रस्त प्राणियों की किसी प्रकार सहायता करना, स्कूल कॉलेज में छात्रों को ज्ञान देने में सहायता करना, अस्पतालों में रोगियों के दुःख दर्द मिटाने में सहायता करना आदि कार्यों में एकान्त पाप मानते हैं।

इन कार्यों में एकान्त पाप ठहराने से गृहस्थ जीवन में बड़ी भारी दुर्व्यवस्था और अशांति उत्पन्न हो रही है। परोपकारवृत्ति और विनयभावना का तो प्रायः लोप सा हो रहा है। लोग

उच्छृंखल जीवन व्यतीत करते हुए देखे जा रहे हैं। यह जैन समाज के लिये भारी कलंक की बात है कि धर्म के नाम पर जैन समाज में अधर्म की वृद्धि की जा रही है और मानव सभ्यता का संहार किया जा रहा है।

इस प्रकार समाज में अधर्म का प्रचार होता हुआ देखकर किस सहृदय जैन के हृदय में दुःख नहीं होगा? अतः इसकी निवृत्ति करना प्रत्येक जैन का धार्मिक कर्तव्य हो जाता है। जैन आगम में किसी भी स्थान पर साधु के सिवाय अन्य सबको कुपाम्र नहीं कहा है और न यह अन्य प्रमाणों से ही सिद्ध होता है। तथापि जीतमल जी (तेरह पंथ के चौथे आचार्य) भ्रम विध्वंसन नामक अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि-

“साधु थी अमेरा तो कुपाम्र छे” (भ्र.पृ. 79) तथा

“छः कायारा सरुन ते कुपाम्र छे” (भ्र.पृ. 82)

इसकी मान्यता यह है कि-तेरह पंथ के सिद्धान्त के अनुसार वीक्षा ग्रहण किये हुए साधु ही इस जगत में सुपाम्र हैं। उनसे भिन्न सभी प्राणी कुपाम्र हैं। इस प्रकार जीतमलजी तेरह पंथी साधुओं से भिन्न सबको कुपाम्र कायम करके उनको सहायता देना, उनके प्रति विनय करमा आदि कार्यों को माप बतते हैं। अतः पुत्र का मत्ता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा करना भी उनके मत्त से पाम्र है। इस एकात्म पाम्र कार्यों को छोड़कर तेरह पंथी साधुओं की ही सेवा करमा इसके मत्त में एक मात्र धर्म का कार्य है। भ्रमविध्वंसन पृष्ठ 79 में जीतमलजी लिखते हैं कि “साधु थी अमेरा तो कुपाम्र छे तैमे वीध्यां अमेरी

प्रकृतिनो बन्ध, ते अनेरी प्रकृति पापनी छे” तथा पृष्ठ 83 में लिखते हैं कि- “जीवोना कुपात्रदान ने चौड़े भारी कुकर्म कह्यो, छः कायारा शस्त्र कुपात्र छे, तेने पोष्यां धर्म पुण्य किम निपजे”

अर्थात्। जीतमलजी भारपूर्वक कहते हैं कि “ए मनुष्यो ! देखो कुपात्र दान को स्पष्ट और खुले आम भारी पाप कहा गया है। कुपात्र व्यक्ति छः काया के शस्त्र हैं। इनका पोषण करने से धर्म और पुण्य कैसे हो सकता है !”

इसी प्रकार श्रावक धर्म विचार नामक पुस्तक में भीखणजी लिखते हैं कि -

“कुपात्र दान मोह कर्म उदय” (पृष्ठ 131-132)

भीखणजी के मत में तेरह पन्थ साधु से भिन्न सभी कुपात्र हैं। उनको दान देना इनके मत में मोह कर्म का उदय है। इस सिद्धांत के अनुसार तेरह पन्थी साधु व्याख्यान में भी अपने श्रावकों को तेरह पन्थी साधु से अन्य व्यक्ति को दान देने का त्याग कराते हैं। जैसे कहा है कि -

अव्रत में दान दे, तेहनों टालन रो करे उपायजी।

जाने कर्म बंधे छे म्हायरे, मोने भोगवतां दुःखदायजी।

व्रती-साधु के सिवाय किसी को भी दान देने की वृत्ति को टालने का उपाय करना चाहिए। ‘अव्रती को दान देने से मुझे कर्म बन्ध होगा’ ऐसा समझना चाहिए। वे कर्म भोगने में बड़े दुःखदायी हैं। श्रावक धर्म विचार नामक पुस्तक में भीखणजी

लिखते हैं कि -

अव्रत में दान देवा तणो, कोई त्याग करे मन शुद्ध जी।
तिणरो पाप निरन्तर टालियो,

तिणरी वीर वखाणी बुद्धि जी॥

अर्थात् तेरह पन्थ के साधु के सिवाय संसार के समस्त प्राणी अव्रती हैं उन अव्रतियों को दान देने का यदि कोई शुद्ध मन से त्याग करता है तो समझना चाहिये कि-उसने सदा के लिये पाप का त्याग कर दिया है और वीर प्रभु ऐसे पुरुष के बुद्धि की प्रशंसा करते हैं। भ्रम-विध्वंसन पृष्ठ 82 में साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देना एकान्त पाप बताते हुए संशोधक महाशय लिखते हैं कि -

“कुपात्र दान, मांसादि सेवन, व्यसन कुशीलादि ये तीनों ही एक मार्ग के पथिक हैं। जैसे कि चोर जार और ठग ये तीनों समान व्यवसायी हैं। तैसे ही जयाचार्य के सिद्धान्तानुसार कुपात्र दान भी मांसादि सेवन व्यसन कुशीलादिक की ही श्रेणी में गिनने योग्य हैं।”

तेरह पन्थियों के इन ऊपर लिखे हुए दाखलों से पाठकों को यह भली भाँति ज्ञात हो चुका है कि तेरह पन्थी लोग एक मात्र अपने साधुओं को ही सुपात्र मानकर शेष समस्त प्राणियों को कुपात्र मानते हैं और उनको दान देने में, उनका सम्मान करने में, विनयादि करने में एकान्त पाप बतलाते हैं। इसी प्रसंग में ब्राह्मणों को दान देने और उनको भोजन कराने से जीतमलजी नरक की प्राप्ति बताते हैं। भ्रमविध्वंसन पृष्ठ 68 और 70 में

जीतमलजी लिखते हैं कि - “माँस मद्य भखे, स्त्री आदिक सेवे, बालमरण मरे ए नरक ना कारण कहा। तिम विप्र जिमावे एह पिण नरक ना कारण छे। ब्राह्मण जिमायाँ तमतमा जाय। तमतमा तो अँधारा मां अंधारा ते एहवी नरक में जाय इम कह्यो, जो विप्र जिमायां पुण्य बँधे तो नरक क्यों कही।” भ्रम विध्वंसन पृष्ठ 90 में जीतमलजी लिखते हैं कि - “केटला एक पाखण्डी श्रावक जिमायाँ धर्म गणे।” पृष्ठ 104 पर लिखते हैं कि - “पडिमाधारी श्रावक पिण गृहस्थ छे। तेहना दान मी अनुमोदन वाला ने भी पाप हुवे। तो देवा वाला ने धर्म किम हुवे।”

इन ऊपर लिखे हुए जीतमलजी के लेखों में स्पष्ट कहा हुआ है कि साधु से भिन्न सभी कुपात्र हैं। उनको दान देना एकान्त पाप है तथा ब्राह्मण भोजन कराने से नरक होता है। श्रावकों को देने से एकान्त पाप होता है। जो श्रावक प्रतिमाधारी है और साधु की तरह सर्व सावद्य का त्यागी है तथा साधु की तरह 42 दोषों को त्याग कर आहार लेता है, जिसको शास्त्रकार समणभूया यानि साधु समान बतलाते हैं। उसको भी दान देना एकान्त पाप है। ऐसा भीखणजी और जीतमलजी कहते हैं।

इसी सम्प्रदाय के साधु कुन्दनमलजी ने अभी एक चर्चा बनाई है। उसमें उन्होंने परोपकारादि सभी कार्यों को एकान्त पाप में बताया है। उस चर्चा में राजनीति, गृहस्थनीति, धर्म-नीति और सुपात्र कुपात्र की भी व्याख्या की गई है। हम यहां पाठकों के समालोचनार्थ उस चर्चा को नीचे लिख देते हैं -

(1) “अंधे लूले लँगड़े भूखे प्यासे दुःखी गरीब जीवों की रक्षा

की तो क्या हुआ? (2) गौशाला में गौओं की रक्षा की तो क्या हुआ? (3) कबूतरों को अनाज गिराया तो क्या हुआ? (4) लड़के लड़कियों के लिये स्कूल बनाया तो क्या हुआ? (5) मरीजों के लिये अस्पताल बनाया तो क्या हुआ? (6) यात्रियों के लिये धर्मशालायें बनाई तो क्या हुआ? (7) शहर तथा ग्रामों में आम जनता के लिये मीठे पानी के कुएँ बनाये तो क्या हुआ? (8) गर्मी के दिनों में जंगल में आध-2 कोश की दूरी पर मीठे पानी की पौएँ बनाई तो क्या हुआ? (9) मरते जीवों को बचाया तो क्या हुआ? (10) ब्राह्मणों को भोजन कराया तो क्या हुआ? (11) लड़के और लड़कियों ने अपने-अपने माता-पिता की और स्त्रियों ने अपने-अपने पति की सेवा भक्ति और आज्ञा पालन किये तो क्या हुआ?"

"कई लोग इनमें धर्म कहते हैं। कई लोग इनमें पाप कहते हैं। लेकिन कहने से धर्म नहीं होता है और कहने से पाप नहीं होता है। इसलिए ऐसे कानून बनाओ जिनको दुनियाँ भर में कोई भी मजहब वाला खण्डन न कर सके। ये कानून तो सच्चे और जो चलते-2 खण्डन हो जायें वे कानून झूठे। सच्चे कानून कभी खण्डन नहीं होते। इस संसार में नीति तीन। राजनीति, गृहस्थ नीति व धर्म नीति। राजा लुच्चे लफंगे बदमाशों को देवे दण्ड और सेठ साहूकार भले आदमियों की करे हिफाजत यह राजनीति और इससे उलटा राज अनीति। राजनीति से राजा के राज की उन्नति और दुनिया भर में भलाई और राज अनीति से राजा के राज की बर्बादी और दुनिया भर में बुराई। गृहस्थ नीति-जिस काम को करने से पाँच आदमी बुरा न

बतावे यह गृहस्थनीति। इससे उलटा गृहस्थ अनीति। इस पर उदाहरण-जैसा लिया वैसा दिया यह गृहस्थ नीति। लाकर न देना यह गृहस्थ अनीति। लड़की तेरह या पन्द्रह साल की लड़का अठारह या बीस साल का, यदि परस्पर सम्बन्ध हो तो गृहस्थनीति। लड़की दस साल की बुढ़ा साठ साल का। लड़की 12 साल की लड़का 8 साल का। यदि परस्पर सम्बन्ध हो तो गृहस्थ अनीति। लड़का भले घराने का होकर परस्त्रीगमन, रण्डीबाजी करे तो यह गृहस्थ अनीति। गृहस्थ नीति से गृहस्थाश्रम की उत्पत्ति और दुनिया भर में भलाई। गृहस्थ अनीति से गृहस्थाश्रम की बर्बादी और दुनिया भर में बुराई। धर्मनीति= सम्पूर्ण धर्मनीति, देश थकी धर्मनीति। ऋषि, साधु, मुनि, गुणी, ब्राह्मण सम्पूर्ण धर्मनीति का पालन करें। गृहस्थ के सम्पूर्ण धर्मनीति होती नहीं। यदि हो जावे तो गृहस्थ कहलावे नहीं। बिना अपराधी मोटे जीव को न मारे। मोटी झूठ न बोलें। मोटी चोरी न करे। परस्त्री गमन, रण्डीबाजी न करे। मर्यादा उपरांत पैसा न रखे। पैसे के लिये जाल दगा ठगी प्रपंच न रचे। यह गृहस्थ के गृहस्थाश्रम में रहते हुये देश थकी धर्मनीति। जिससे उसका आत्मकल्याण हो और इससे उलटा धर्म-अनीति जिससे वह डूबे।”

“धर्म भगवान् की आज्ञा में या बाहर? धर्म दया में या हिंसा में? धर्म मोल या अनमोल? धर्म उपदेश में या जबरदस्ती में? धर्म सुपात्र को देने का या कुपात्र को देने का? उत्तर-धर्म भगवान् की आज्ञा में। धर्म दया में। धर्म अनमोल। धर्म उपदेश में। धर्म सुपात्र को देने में। यदि कोई इसमें उलटा बतावे ता

बताने वाला झूठा। सुपात्र के तिलक नहीं होता और कुपात्र के सींग नहीं होते। अतः सुपात्र कुपात्र के ऐसे लक्षण बताओ कि उन लक्षणों को दुनियाँ भर में कोई भी मजहब वाला खण्डन न कर सके।”

“जीव हिंसा करे, करावे, करने को भला जाने यह पहला लक्षण कुपात्र का। चोरी करे, करावे, करता को भला जाने यह दूसरा लक्षण कुपात्र का। झूल बोले, बोलावे, बोलते को भला जाने यह तीसरा लक्षण। मैथुन सेवन करे, करावे, करताने भला जाने यह चौथा लक्षण। परिग्रह रखे, रखावे, रखता को भला जाने यह पाँचवाँ लक्षण। जिसमें ये पाँचों लक्षण पावे वह कुपात्र, न पावे वह सुपात्र। पाँच में से एक भी पावे तो कुपात्र।”

इस ऊपर लिखाई गई चर्चा में ग्यारह प्रश्न उठाये गये हैं और उनमें पाप तथा पुण्य होने का प्रश्न किया है। इसका सीधा उत्तर यही देना चाहिये था कि-इन कार्यों में पाप होता है। अथवा पुण्य होता है। परन्तु ऐसा उत्तर न देकर चर्चा वाले ने गोलमोल उत्तर देने का प्रयत्न किया है। अतः हमारा चर्चावादी महाशय से पूछना यह है कि-उक्त ग्यारह कार्यों में पुण्य होता है या पाप होता है? इसका वे खुलासा उत्तर दें तथा इस चर्चा में जो गृहस्थ नीति तथा राजनीति बताई गई है। उनका पूर्ण पालन करने वाले को पाप होता है या पुण्य? तथा राजनीति का पूर्ण पालन करने वाला सुपात्र है या कुपात्र? एवं गृहस्थ नीति का पूर्ण पालन करने वाला गृहस्थ सुपात्र है या कुपात्र? वे दोनों धार्मिक हैं या पापी? इन प्रश्नों का खुलासा उत्तर देना चाहिये।

भीखणजी के सिद्धान्तानुसार तो ये सभी नीति के पालन करने वाले कुपात्र ही हैं। क्योंकि वे साधु से भिन्न समस्त जगत् को कुपात्र मानते हैं। जैसा कि जीतमलजी ने लिखा है कि-“साधु थी अनेरो तो कुपात्र छे।” अखण्ड कानून बनाने वाले चर्चावादी महाशय आदि उपरोक्त भीखणजी के सिद्धान्त से विपरीत राजनीति या गृहस्थ नीति में या पूर्वोक्त 11 प्रश्नों में धर्म या पुण्य मानते हैं तथा नीति का पूर्ण पालन करने वाले राजा को सुपात्र या धार्मिक मानते हैं तो उन्हें इसका खुलासा जवाब देना चाहिये। गोलमोल उत्तर देकर जगत् को धोखा देना कौनसी नीति है? सो चर्चावादी महाशय बतावें।

यहां विचारणीय विषय यह है कि-ऊपर लिखी हुई इनकी सुपात्र कुपात्र विषय की व्याख्या जैनागम से सम्मत है या प्रतिकूल है? जैन आगम में कहीं भी ऐसा पाठ नहीं है जो एकमात्र साधु को सुपात्र और साधु से इतर समस्त प्राणी को कुपात्र बताता हो। चर्चावादी महाशय ने जो सुपात्र और कुपात्र के लक्षण अपनी इच्छा से बनाये हैं उनके अनुसार वे स्वयं तथा उनके सम्प्रदाय के सभी साधु भी कुपात्र ठहरते हैं। चर्चावादी तेरहपन्थी महाशय का कहना है कि-जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह रूप, माँच या एक आस्रव हो वह कुपात्र है। तो प्रमत्त गुणस्थान वाले साधु में भी 18 ही आस्रव पाये जाते हैं, फिर वे कुपात्र क्यों नहीं? इनके आचार्य भीखणजी ने साधुओं में भी 18 आस्रव माने हैं जैसा कि 52 बोल के थोकड़े में आस्रवों की 20 भेदों की विगत प्रकरण में वे लिखते हैं कि

“छट्टे गुणठाणे 18 आस्रव पावे मिथ्यात्व तथा अव्रत आस्रव टल्यो।” वे अठारह आस्रव पाठकों के ज्ञानार्थ उन्हीं के ग्रन्थ के अनुसार नीचे लिख दिये जाते हैं :-

प्रमाद आश्रव, कषाय आश्रव, जोग आश्रव, प्राणातिपात आश्रव, मृषावाद आश्रव, अदत्तादान आश्रव, मैथुन आश्रव, परिग्रह-अप्पमव, श्रोत्रइन्द्री मोकली मेले ते आश्रव, चक्षुइन्द्री मोकली मेले ते आश्रव, घ्राणेन्द्री मोकली मेले ते आश्रव, रसइन्द्री मोकली मेले ते आश्रव, स्पर्शइन्द्री मोकली मेले ते आश्रव, मन प्रवर्तवै ते आश्रव, वचन प्रवर्तवै ते आश्रव, काया प्रवर्तवै ते आश्रव भण्डोपकरण मेलतां अयत्ना करे ते आश्रव, सुई कुसग्गमात्र सेवै ते आश्रव। शिशु हितशिक्षा प्रथम भाग पृष्ठ। 7-18। यदि आश्रवों का होना कुपात्रता का लक्षण माना जावे तो साधु भी कुपात्र ही ठहरेंगे। यदि इन आश्रवों के होने पर भी साधु कुपात्र नहीं होता है तो फिर श्रावक कुपात्र कैसे हो सकते हैं। अतः चर्चावादी महाशय का लक्षण अयुक्त तथा जैनागम एवं युक्ति से विरुद्ध है।

चर्चावादी महाशय के बताये हुये लक्षण तो अयुक्त हैं ही। साथ ही भीखणजी आदि श्रावक को अव्रत के हिसाब से कुपात्र बताते हैं, वह भी मिथ्या है। क्योंकि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती है। यह भगवती सूत्र में स्पष्ट लिखा है। विरतिभाव आने पर जीव को अविरति की क्रिया ही जब नहीं लगती है तब वह अविरति के कारण कुपात्र कैसे माना जा सकता है। भगवती का वह पाठ भी पाठकों के ज्ञानार्थ लिख

दिया जाता है। वह पाठ यह है- “तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसिणं आदिआओ तिन्नि किरियाओ कज्जंति।” अर्थात् श्रावक को आदि की तीन क्रियाएँ यानि आरंभिकी पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया लगती है, परंतु अप्रत्याख्यानीकी (अव्रत की) और मिथ्या दर्शन प्रत्यया नहीं लगती है। इस पाठ में शास्त्रकार ने अव्रत की क्रिया का श्रावक में स्पष्ट निषेध किया है। अतः अव्रत के हिसाब से श्रावक को कुपात्र बताने वाले भीखणजी स्पष्ट शास्त्र विरुद्ध प्रलाप करने वाले हैं।

यद्यपि तेरहपन्थी लोग कहते हैं कि श्रावक जिन वस्तुओं से निवृत्त नहीं है उनकी क्रिया तो उनको लगती ही है। जिन से विरत है उनकी क्रिया नहीं लगती है। तथापि इनकी यह मान्यता भी आगम विरुद्ध है। क्योंकि-अनन्तानुबंधी कषायों के क्षयोपशम होने से मिथ्यात्व का अभाव होकर जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के पश्चात उस जीव को मिथ्यात्व की क्रिया नहीं लगती है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानीय कषाय के क्षयोपशम होने से जीव में विरतिभाव आता है और विरतिभाव आने पर अविरति की क्रिया नहीं लगती है। यदि विरतिभाव आने पर भी अविरति की क्रिया लगे तो फिर सम्यक्त्व के आने पर भी मिथ्यात्व की क्रिया लगनी चाहिये। यदि तेरहपन्थी यह कहें कि-उववाई के पाठ में श्रावक को अट्टारह ही पापों से देश से विरत कहा है और देश से अविरत कहा है। इसलिए श्रावक जिससे अविरत है उसकी क्रिया उसको लगनी चाहिये तो फिर उस पाठ में श्रावक का मिथ्यात्व से भी देश से ही विरत और देश से ही अविरत कहा

है। ऐसी हालत में श्रावक को मिथ्यात्व की क्रिया भी होनी चाहिये। परन्तु आप भी श्रावक में मिथ्यात्व की क्रिया नहीं मानते हैं। तो उसमें अविरत की क्रिया भी नहीं माननी चाहिये। यही बात न्यायसंगत प्रतीत होती है। श्रावक जिन पदार्थों से विरत नहीं है किन्तु उनकी ममता जिनमें विद्यमान है उन पदार्थों के कारण उसको पारिग्रहिकी क्रिया लगती है यह शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है। यदि उसे भी आप अविरत की क्रिया के अन्तर्गत मान लें तो फिर पारिग्रहिकी क्रिया का अवकाश ही श्रावक में नहीं रहता। यह आप को सूक्ष्म दृष्टि से विचारना चाहिये।

भ्रमविध्वंसन पृष्ठ 82 में जीतमलजी लिखते हैं कि-
“छः कायना शस्त्र ते कुपात्र छे” अर्थात् जो छः काय के जीवों का घात करता है, वह कुपात्र है। जीतमलजी कुपात्र का यह लक्षण बतलाते हैं और श्रावक छः काय के जीवों का घात करता है इसलिये उसको कुपात्र कायम करते हैं। परन्तु जीतमलजी को यह समझ लेना चाहिये था कि प्रमादी साधु भी भगवती शतक 1 उद्देशा 1 में छः काया का आरंभी होने से घातक बतलाया गया है। इसलिए छःकाया का घातक यदि कुपात्र है तो फिर साधु भी कुपात्र ठहरता है। उसको वे सुपात्र कैसे कहते हैं? देखिये भगवती का वह पाठ यह है-

“तत्थ णं जे ते पमत्त संजया ते सुहजोगं पडुच्च णो आयारम्भा णो परारम्भा णो तदुभयारम्भा अणारंभा चेव। असुहजोगं पडुच्च। आयारम्भावि परारम्भावि तदुभयारंभावि णो अणारम्भा।”

भगवती शतक 1 उ. 1

अर्थात् प्रमादी साधु शुभ योग की अपेक्षा से आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी नहीं है किन्तु अनारम्भी है। परन्तु वह अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारम्भी, परारम्भी और तदुभयारम्भी है। अनारम्भी नहीं है। इस पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रमादी साधु भी आरम्भी होने के कारण छः काया का शस्त्र है। फिर प्रमादी साधु कुपात्र क्यों नहीं? यदि छः काया का शस्त्र होकर भी प्रमादी साधु कुपात्र नहीं माना जाता तो फिर श्रावक क्योंकर कुपात्र माना जा सकता है? अतः "छः काया का शस्त्र कुपात्र है।" यह जीतमलजी का प्रतिपादन किया हुआ कुपात्र का लक्षण भी आगम विरुद्ध है।

कुपात्र की परिभाषा भीखणजी और जीतमलजी एवं चर्चावादी कुन्दनमलजी ने जो बनाई है। उसके अनुसार जैसे श्रावक कुपात्र ठहरता है वैसे साधु भी कुपात्र ही ठहरता है। तथापि साधु को ये सुपात्र और श्रावक को कुपात्र बताते हैं, यह इनकी स्वार्थपरता के सिवाय और कुछ नहीं है। इन लोगों के ऐसा करने का उद्देश्य यही है कि समस्त लोगों को कुपात्र मानकर जनता एकमात्र हम लोगों को ही सुपात्र माने और हमारी ही सेवा, पूजा, भक्ति, विनय और दान सम्मान आदि करें।

जीतमलजी, भीखणजी और चर्चावादी महाशय ने श्रावक को कुपात्र ठहराने का जो प्रयत्न किया है वह न्याय एवं शास्त्र विरुद्ध है, यह हमने ऊपर बता दिया है। स्वतंत्र रूप से यदि इसके विषय में विचार किया जाय तो भी श्रावक कुपात्र नहीं

ठहरता है, क्योंकि-वह वीतराग प्रणीत आगम में श्रद्धा रखता हुआ अपने श्रावक व्रत का पालन करता है और श्रावकों के लिए शास्त्र में वर्जित कार्यों का त्याग करता है। फिर जो शास्त्र की विधि के अनुसार कार्य करने वाला है वह भी यदि कुपात्र माना जायेगा तो सुपात्र कौन हो सकता है? शास्त्रकार तो जगह-जगह श्रावक को धर्मिष्ठ, धर्मानुग, धर्मप्ररंजन आदि विशेषणों से विभूषित करके प्रशंसा करते हैं। फिर ऐसा व्यक्ति जो शास्त्र द्वारा प्रशंसित किया जा रहा है, कुपात्र कैसे कहा जा सकता है? देखिये उववाई सूत्र में श्रावक के लिये यह पाठ आया है-

“अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिद्धा धम्मक्खाई धम्मपलोइया धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरन्ति, सुसीला सुव्वया सुप्पिडयानंदा साहू”
(श्री उववाई उत्तरार्द्ध)

अर्थात् श्रावक अल्प इच्छावाले अल्पआरंभ तथा अल्पपरिग्रह वाले होते हैं। वे धार्मिक यानि धर्माचरण करने वाले और धर्म के पीछे चलने वाले होते हैं। इतना ही नहीं किन्तु वे अत्यन्त धर्म में इच्छा रखने वाले तथा धर्म की व्याख्या करने वाले होते हैं। वे सदा धर्म की ओर दृष्टि रखते हैं। धर्म विरुद्ध कार्य करने में लज्जा करते हैं। उनका व्यवहार धर्म को लक्ष्य करके ही होता है। तथा वे अपनी आजीविका भी धर्म के साथ ही करते हैं। एवं वे सुशील और सुव्रत होते हैं। तथा व सुख से प्रसन्न करने योग्य साधुवत् होते हैं।

यहां शास्त्रकार ने श्रावकों के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग किया है। वे विशेषण ऐसे प्रशंसा के द्योतक हैं, जो अतिशय गुणयुक्त व्यक्ति के लिये ही घटित हो सकते हैं। कुपात्र, पापी और नीच व्यक्तियों के लिये इनका प्रयोग करना तो मूर्ख भी उचित नहीं मान सकता। फिर सर्वज्ञ प्रभु इन विशेषणों का उपयोग कुपात्रों के लिये कैसे कर सकते हैं? यह तेरहपन्थियों को सोचना चाहिये। इस पाठ में शास्त्रकार जिसको श्रीमुख से सुशील सुव्रत और साधु कहते हैं। उस को तेरहपंथी कुपात्र कहते हैं। यह तीर्थंकरों की उक्ति पर हरताल लगाना और अपने को तीर्थंकर से बढ़कर बताना है। इसी को तो दुसग्रह कहते हैं ! ऐसा उत्सूत्रवादी धर्म की व्यवस्था करे तो सारा जगत् शीघ्र ही पाप सागर में डूब जाय। इसमें कुछ भी संशय नहीं हो सकता। जिस प्रकार उववाई सूत्र में शास्त्रकार ने उत्तमोत्तम विशेषणों के द्वारा श्रावक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसी तरह सूत्रकृतांग में भी प्रशंसा करते हुए श्रावक के अंगीकृत मार्ग को एकान्त धर्म पक्ष में माना है। यह पाठ भी पाठकों के बोधार्थ दे दिया जाता है-

“तत्थ णं जा सग सव्वओ विरय्यविरई एस ठाणे
आरंभणोआरंभठाणे एस ठाणे आरिए केवले पडिपुन्ने
नेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे निव्वाण-
मग्गे निज्जाण मग्गे सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंत सम्मे साहू”

इसका अर्थ यह है कि-पहले बताये हुए स्थानों में जो विरताविरत नामक स्थान है। यह स्थान “आरंभणोआरंभ”

स्थान कहा जाता है। यह स्थान आर्य्य अर्थात् “आराद्यातः पापकर्मभ्य इति आर्य्यः।” इस व्युत्पत्ति के अनुसार पापों से रहित है। यह केवल यानी दोषों से वर्जित है। तथा अपूर्णतारहित और न्यायसंगत और शुद्धि से सम्पन्न है। यह शल्य यानि माया निदान मिथ्यादर्शनरूप त्रिविध शल्यों का नाश करने वाला है। यह सिद्धि मुक्ति निर्वाण और निर्याण का मार्ग है। यह समस्त दुःखों का नाश करने वाला एकान्त रूप से सम्यक् और उत्तम है।

इस पाठ में शास्त्रकार श्रावक के मार्ग को एकान्तरूप से धर्म पक्ष में स्थापन करते हैं और उसको पापरहित मोक्ष का मार्ग, दोष रहित एकान्त सम्यक् और उत्तम बताते हैं। अब पाठकों को विचार करना चाहिये कि जिस मार्ग की शास्त्रकार इतनी अधिक प्रशंसा कर रहे हैं और जिसको मोक्ष का मार्ग बताते हैं उस मार्ग से चलने वाला श्रावक कुपात्र कैसे हो सकता है? अतः ऐसे प्रशंसनीय मार्ग से चलने वाले को कुपात्र बताना तो जैन आगम को ही न मानना है।

शास्त्रों में जहां कहीं श्रावकों का प्रसंग आता है वहां शास्त्रकार उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, निन्दा नहीं करते हैं। निन्दा तो ये तेरह पंथी करते हैं। कहिये ! कुपात्र से बढ़कर श्रावकों के लिये दूसरा निन्दा सूचक विशेषण क्या हो सकता है? ठाणांग की टीका में टीकाकारने ‘संघ’ शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि-“संघः गुणरत्नपात्रभूतसत्त्वसमूहः” अर्थात् यहां संघशब्द का अर्थ उन प्राणियों का समूह है जा

गुण रत्नों के पात्र हैं। सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र जैन दर्शन में गुण रत्न माने जाते हैं। इनको जो धारण करने वाले व्यक्ति हैं उनकी प्रशंसा करते हुए शास्त्रकार ने उन्हें गुण रत्नों का पात्र बताया है। उस समूह में साधु साध्वी श्रावक और श्राविका चारों ही माने जाते हैं। इसलिए श्रावक शास्त्रानुसार गुण रत्नों का पात्र सिद्ध होता है। उसको कुपात्र बताना शास्त्र विरुद्ध भाषण करना है। बुद्धिमान पाठक स्वयं यह बात समझ सकते हैं।

भगवती शतक 20 उद्देशा आठ में शास्त्रकार तीर्थ का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि- **“तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघे तं जहा-समण समणीओ सावया सावियाओ।”** अर्थात् संसार से पार करने का जो साधन है उसे तीर्थ कहते हैं। वह तीर्थ चार वर्णों से युक्त श्रमण संघ है। जैसे कि-साधु साध्वी श्रावक और श्राविका। यद्यपि संसार सागर को पार करने का साक्षात् साधन तो ज्ञान दर्शन और चारित्र है। तथापि इनका आधार होने के कारण उक्त चार वर्णों का समूह भी तीर्थ कहा जाता है।

यहां साक्षात् शास्त्रकार संसार सागर से पार होने के साधन-भूत तीर्थ में श्रावक और श्राविका की उसी प्रकार गणना करते हैं जैसे श्रमण और श्रमणी की। फिर श्रावक और श्राविका कुपात्र कैसे माने जा सकते हैं। कुपात्रों का समूह संसार सागर को पार करने का साधन नहीं हो सकता। श्रावक को शास्त्रकार ने इस पाठ में तीर्थ का खास अंगभूत माना है तथा अन्यान्य स्थलों में श्रावकों की बहुत प्रशंसा की है। इस कारण श्रावक

कुपात्र नहीं है। यह बात निर्विवाद है। चतुर्थ गुण स्थान वाला अविरत सम्यग् दृष्टि कुपात्र नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह भी सम्यग्दर्शन रूपी (श्रद्धा) रत्न का पात्र है। जो रत्न का पात्र है वह कुपात्र कैसे हो सकता है। शास्त्रकार ने सम्यग्दर्शन की प्रशंसा करते हुए यह स्वीकार किया है कि श्रद्धा को प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है। वह जिसको प्राप्त हो जाती है वह मनुष्य कल्याण मार्ग का पथिक हो जाता है। उसे कुपात्र कहना तो शास्त्रकार के कथन को तिलांजलि देना है।

देखिये ! उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन में सम्यग्दर्शन की दुर्लभता के विषय में यह गाथा लिखी है “आहच्च सवणं लब्धुं श्रद्धा परम दुर्लभा” अर्थात् शास्त्रों का श्रवण तो कदाचित् हो भी जाय परन्तु उसमें श्रद्धा होना बहुत ही कठिन है। यहां शास्त्रकार श्रद्धा को परम दुर्लभ बता कर उसको एक बहुत ही उत्तम पदार्थ मानते हैं। क्योंकि यहीं से कल्याण मार्ग पर आने का आरम्भ होता है। अथवा यों कहिये कि यही कल्याणरूपी आनन्दभवन की नींव है।

वह जिस व्यक्ति में मौजूद है वह कुपात्र या अयोग्य नहीं कहा जा सकता। जबकि चतुर्थ गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि भी सम्यग्दर्शन रूपी गुण का पात्र होने से कुपात्र नहीं है। तो फिर पंचम गुण स्थान वाला श्रावक, जिसमें सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र्य तीनों ही विद्यमान हैं वह कुपात्र, पापी या अधार्मिक आदि कैसे कहा जा सकता है। तथापि जिस मनुष्य में स्वार्थ की वासना अति मात्रा में हो जाती है। जो मत पक्ष के आग्रह म

जकड़ जाता है। वह कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म अधर्म को न सोचकर जिस किसी तरह अपने स्वार्थ और मत पक्ष का स्थापन करता है। वह शास्त्रकारों की बातों में और न्याय अन्याय की ओर दृष्टि नहीं देता। यही कारण है कि तेरहपंथी श्रावक को कुपात्र कहकर शास्त्र विरुद्ध प्ररूपण करते हैं। शास्त्रकारों ने श्रावकों को धार्मिक और गुणरत्न का पात्र माना है - कुपात्र नहीं कहा है। इसलिये शास्त्रीय सिद्धान्त से तो श्रावक कुपात्र है ही नहीं।

लेश्या, ध्यान या कषाय आदि के कारण भी श्रावक कुपात्र नहीं कहा जा सकता है क्योंकि-जो छः लेश्याएँ श्रावकों में होती हैं। तेरहपन्थी वे ही छः लेश्याएँ साधुओं में भी मानते हैं। यदि छः लेश्याओं के कारण तेरहपन्थी श्रावक को कुपात्र मानते हो तो फिर छः लेश्याएं तो साधुओं में भी वे मानते हैं। अतः तेरहपंथी साधु भी इस प्रकार कुपात्र ही ठहरेंगे। यदि छः लेश्याओं के होने पर भी साधु कुपात्र नहीं होते तो फिर श्रावक कैसे कुपात्र हो सकते हैं। यही बात ध्यान और कषाय के सम्बन्ध में भी है। क्योंकि-श्रावक और साधु दोनों में ही तेरहपन्थी आर्त-रौद्रध्यान और दोनों में ही कषायों का सद्भाव मानते हैं। ऐसी दशा में पूर्वोक्त ध्यान या कषाय के कारण कुपात्र कहें तो फिर साधु श्रावक दोनों ही समान रूप से कुपात्र ठहरेंगे। तो फिर साधु सुपात्र हैं और श्रावक कुपात्र हैं। यह भेद कैसे किया जा सकता है? अतः ध्यान या कषाय के कारण भी श्रावक कुपात्र नहीं कहा जा सकता है।

शास्त्रकार तो कहीं भी श्रावक को कुपात्र नहीं कहते। दूसरे किसी कारण से भी श्रावक कुपात्र सिद्ध नहीं होता है। तथापि तेरहपन्थी लोग श्रावक को कुपात्र कहते हैं यह उनका सा तो मिथ्याभिनिवेश-दुराग्रह है अथवा जगत में एकमात्र हम ही सुपात्र माने जायें शेष सब लोग कुपात्र माने जायें, जिससे जगत में एकमात्र हमारी ही पूजा प्रतिष्ठा हो दूसरे की न हो, यह स्वार्थ वासना ही ऐसी मान्यता का कारण हो सकती है।

प्रिय बन्धुओ ! इस मान्यता का दुष्परिणाम यह हुआ है कि औरतें अपने पति को कुपात्र मानकर उसकी सेवा शुश्रूषा या विनय करने में पाप मानती हैं। तथा पुत्र अपने पिता की और छोटी भाई अपने बड़े भाई की सेवा शुश्रूषा या विनय आदि में पाप मानता है। स्वभावतः उससे उसकी विरक्ति हो जाती है और यह उस कार्य को नहीं करना चाहता है। यदि किसी प्रकार करना पड़े तो उसको उससे बड़ा ही मानसिक दुःख होता है। अतः वह उस कार्य से सदा ही बचकर रहना चाहता है। अब जनता को यह सोचना चाहिये कि जिस समाज में ऐसी मान्यता फैल जाये उस समाज की क्या दशा होगी? पिता पुत्र स्त्री और पति तथा बड़े छोटे का पारस्परिक व्यवहार किस प्रकार व्यवस्थित रह सकता है? और इनके रहे बिना समाज पतन की अवस्था से कैसे बच सकता है? जहाँ ऐसी मान्यता हो वह समाज या परिवार सभ्य मानव समाज न रहकर पशु समाज या असभ्य मनुष्यों का समाज होगा। इसमें क्या

सन्देह है। आज इसी मान्यता का यह फल हो रहा है कि औरतें अपने बीमार पति पुत्र आदि कुटुम्बी जनों को कुपात्र मान कर उनकी सेवा शुश्रूषा में पाप होना समझती हुई जब कभी इच्छा होती है साधुओं का दर्शन करने के लिये चली जाती हैं। एक मात्र उनको ही सुपात्र समझकर उनका मुख देखती रहती हैं। मानों इस कार्य से ही उनके जीवन की सफलता है और यही धर्म का एकमात्र साधन है, शेष सब पाप का कार्य है। केवल स्त्रियों की ही यह दशा नहीं है। इस समाज की शिक्षा से युक्त हृदय वाले बालक युवक और वृद्ध भी ऐसा ही करते हुए देखे जाते हैं। इन सब दुर्ग्यवस्थाओं को फैलाने वाली, साधु से अतिरिक्त सभी को कुपात्र बताने वाली यह जंघरीली मान्यता ही है। अथवा इन साधु नाम धारियों की स्वार्थ पूर्ति का यह प्रपंच कहा जा सकता है। इसमें शास्त्रीय मान्यता की ग्रन्थ भी नहीं है, यह ऊपर सविस्तार बता दिया गया है।

तेरह पन्थियों की मान्यता से सामाजिक व्यवस्था के नाश का दिग्दर्शन तो संक्षेप से करा दिया गया है। इस मान्यता के कारण अनुकम्पा तथा दया की क्या दशा हो रही है। यह भी संक्षेप में थोड़ा बता दिया जाता है। साधु के सिवाय "समस्त लोग कुपात्र है" इस मान्यता से भावित व्यक्ति गरीब, अनाथ, रोगी, दीन, हीन व्यक्तियों की रक्षा के लिये उनको अन्न वस्त्र औषध आश्रय आदि देने में एकान्त पाप मानकर उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं देते हैं। सहायता देना तो दूर रहा यदि

कोई व्यक्ति ऊपर से गिर रहा है और हाथ का सहारा देने से बच सकता है तो उसे हाथ का सहारा देकर बचाने में भी ये लोग पाप मानते हैं। किसी गृहस्थ के घर में आग लगी है और घर का द्वार बन्द होने से घर वाले बाहर नहीं निकल सकते हैं तो उस घर का द्वार खोलकर उन प्राणियों की रक्षा करना भी ये लोग पाप मानते हैं। ये कहते हैं कि-“वे घर वाले कुपात्र हैं। कुपात्र की रक्षा में धर्म कैसे ! यह तो महान् पाप का कार्य है। उन लोगों ने पाप किया था उसका फल ये भोग रहे हैं। फल भोगने देना चाहिये, कर्ज चुका रहे हैं, चुकाने देना चाहिए।”

यह हाल देखकर कहना पड़ता है कि “साधु से इतर सभी कुपात्र हैं” यह मान्यता सामाजिक व्यवस्था दान और दया का नाश करने वाली बड़ी भारी जहरीली गैस है। जिस देश या समाज में इस मान्यता का प्रचार हो जाय उसका नाश होना अनिवार्य है। यदि गवर्नमेंट या राजा महाराजा आदि इसी मान्यता के अनुसार अपनी नीति बना लें तब तो जगत् के नाश होने में शायद ही एक दिन का विलम्ब हो।

जिसके नेत्र में पाण्डु रोग हो जाता है उसको श्वेत चन्द्रमा भी पीला दिखता है। उसमें चन्द्रमा का अपराध नहीं किन्तु नेत्र वाले के नेत्रों का दोष है। इसी तरह शास्त्र का सरल सिद्धान्त भी किसी को वक्र दिखता है तो उसके अज्ञान का दोष है, शास्त्र का नहीं। इन तेरापन्थियों की मान्यता को देखकर जैन सिद्धान्त को न जानने वाले अन्य धर्मी लोग परस्पर कहा करते

हैं कि जैन धर्म दान, दया का विरोधी है। वे जैन धर्म को बुरा मानते हैं। परन्तु उनको यह ज्ञान नहीं है कि जैन धर्म दान दया का विरोधी नहीं है। दान दया के विरोधी तो केवल श्वे. तेरह-पंथी हैं। समस्त जैन नहीं। जैन धर्म तो स्पष्ट कहता है कि—
“सठ्व जग जीव रक्खण दयदुयाए पावयणं भगवया सुकहियं।” (प्रश्न व्याकरण) इसका अर्थ यह है कि संसार में जितने भी प्राणी निवास करते हैं उनकी रक्षा के लिए भगवान ने जैन आगम का वर्णन किया है। प्राणियों की रक्षा ही उनकी दया है। इस पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैन आगम के निर्माण का उद्देश्य ही प्राणियों की रक्षा या दया करना है। जिसका उद्देश्य प्राणियों की रक्षा करना है वह दया का विरोधी हो यह कैसे हो सकता है? अतः जैन आगम रक्षा या दया का विरोधी नहीं है। यह तो इस बात से स्पष्ट सिद्ध होता है। तथापि जिसको प्रबल व्यामोह है अथवा जो अपने मत पक्ष के दुराग्रह में बंध गया है वह किस प्रकार इस बात को मान सकता है। यद्यपि इस पाठ में रक्षा का विधान स्पष्ट है तथापि तेरहपंथी भोलीभाली जनता को अपने पक्ष में कायम रखने के लिये कहते हैं कि—
“प्राणियों को स्वयं न मारना उनकी रक्षा या दया कहलाती है, मरते प्राणी को मारना रक्षा या दया नहीं है।” भोले जीवों को शब्दार्थ का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं। वे हमारे भुलावे में आ जाते हैं। परन्तु बुद्धिमत् पुरुष जिसको शब्दार्थ का कुछ ज्ञान हो वे हमारे मारा जात में कदापि नहीं पड़ते। वे अच्छी तरह इस

बात को समझते हैं कि प्राणियों को न मारना तो हिंसा की निवृत्ति है, प्रवृत्ति नहीं और रक्षा शब्द मरते प्राणी को बचाने का अर्थ का वाचक होने से प्रवृत्ति का बोधक है। निवृत्ति का बोधक नहीं है। इसको इस प्रकार समझना चाहिये कि एक मनुष्य प्राणी को नहीं मारता है और दूसरा मरते को बचाता है इनमें पहले के लिये यह कहा जाता है कि-यह प्राणी को नहीं मारता है और दूसरे के लिए वैसा न कह कर ऐसा कहा जाता है कि यह प्राणी की रक्षा करता है। इस प्रकार रक्षा और न मारना इन दोनों का प्रयोग यानि व्यवहार भिन्न-भिन्न अर्थों में होने से इनका भेद स्पष्ट सिद्ध है। तथापि इन दोनों का एक ही अर्थ बताकर भोले जीवों को धोखा देना तेरहपंथियों का दुराग्रह या व्यामोह के सिवाय और क्या हो सकता है?

राजप्रश्नीय सूत्र में राजा प्रदेशी का वर्णन आता है। वहां कहा है कि जैन धर्म अंगीकार करने के पहले राजा प्रदेशी बड़ा ही निर्दय और हिंसक था। उसके हाथ प्राणियों के रक्त से रञ्जित रहते थे। वह दीनहीन प्राणियों से दान की वस्तु छीन लिया करता था। केशीश्रमण मुनि ने धर्मोपदेश देकर जब उसको जैन धर्म का अनुयायी बनाया तब उसने अपनी समस्त पहिले की हिंसात्मक क्रिया छोड़ दी और प्राणियों पर दया करके उनके लिये दानशाला बनाई और दानशाला बनाकर उन्हें अशनपानादि देना प्रारम्भ कर दिया। यहां पाठकों को यह विचारना चाहिये कि राजा प्रदेशी यदि साधु से भिन्न समस्त

प्राणियों को कुपात्र समझता और उनको दान देना कुपात्र दान और व्यसन कुशीलादि के समान एकान्त पाप का कार्य समझता तो वह धार्मिक होकर ऐसा पाप का कार्य क्यों करता? राजा प्रदेशी ने दानशाला खोलने की इच्छा केशीश्रमण मुनि के समक्ष ही प्रकट की थी। परन्तु केशीश्रमण मुनि ने उसको दानशाला खोलने का निषेध नहीं किया। यदि साधु के सिवाय समस्त प्राणी कुपात्र होते और उनको दान देना एकान्त पाप होता तो उक्त मुनि, राजा प्रदेशी को दानशाला खोलने का निषेध कर देते। साधु जन एकान्त पाप के कार्य का तो निषेध करते ही हैं। फिर केशीश्रमण मुनि ने निषेध क्यों नहीं किया? अतः “साधु से इतर सभी कुपात्र हैं और उनको दान आदि देना तथा उनका विनय करना एकान्त पाप हैं” यह जैन शास्त्र की मान्यता नहीं है। इसके सिवाय साक्षात् मल्लिनाथ भगवान के पिता कुम्भ राजा ने मल्लिनाथ भगवान के दीक्षा ग्रहण करते समय दानशाला खोली थी। यदि तेरह पन्थियों की तरह उनकी मान्यता होती और वे साधु से भिन्न सभी को कुपात्र मानते होते तो कुपात्रों को दान देने के लिये वे दानशाला क्यों बनाते?

सबसे अधिक विचार करने की बात यह है कि-साक्षात् तीर्थंकर देव विरतिभाव आ जाने पर 1 कोटि 8 लाख स्वर्ण-मुद्रा का एक वर्ष पर्यन्त नित्य दान करते हैं। यदि वे साधु से भिन्न सभी को कुपात्र मानते होते तो कुपात्रों को दान देने का पाप क्यों करते? अतः इन ऊपर लिखी हुई शास्त्रीय बातों से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि साधु से इतर समस्त प्राणियों को

कुपात्र मानना और उनको दाम देने या विनय आदि से पाप मानना जैन धर्म का सिद्धान्त नहीं है। किन्तु तेरह पन्थियों का मनः कल्पित सिद्धान्त है। इस शास्त्र विरुद्ध और मानवधर्म विपरीत सिद्धान्त को देखकर जैन धर्म के सिद्धान्तों को बुरा बताना ठीक नहीं है। क्योंकि जैन धर्म जैसे रक्षा प्रधान धर्म के ऐसे मिन्दनीय सिद्धान्त नहीं हो सकते। अतः साधु के सिवाय सभी को कुपात्र बताना मिथ्या है। हमने ऊपर शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध करके बता दिया है कि-साधु से इतर सभी को कुपात्र मानने का सिद्धान्त जैनागम विरुद्ध है। आशा है कि-पाठकगण इसे पढ़कर युक्ता युक्त विचार करके निर्णय करेंगे।

“अणुकंपा जिणवरेहिं ण कहिंपि पडिसिद्धा”

भावार्थ-सुसीबतों में आए हुए सभी की मदद-अनुकम्पा करनी चाहिये इसमें पात्र-कुपात्र का विचार नहीं करना चाहिये। ऐसा सभी जिमेश्वरों का फरमान है।

श्री शांतिनाथ भगवान ने मेघरथ राजा के भव में कबूतर को मौत के मुंह से बचाया था।

जगदू शाह ने दुष्काल के समय में करोड़ों क्वींटल अनाज मुफ्त वितरण करके धर्म और यश कमाया था। इसे कौन नहीं जानता?

कबूतर को मारसे वास्ती मिल्ली को पाम लगता है, तो कबूतर को वसमा खिल्लासे वास्ती को व खिल्लासे वास्ती को धर्म ही तो हौगा।

गाय को मारने वाले कसाई को पाप लगता है तो गाय को बचाने वाले को धर्म होगा ही।

चूहे को मारने वाली बिल्ली को पाप लगता है, तो मौत के मुंह से चूहे को बचाने वाले को धर्म होगा ही।

बिल्ली को मारने वाले कुत्ते को पाप लगता है, तो मरती हुई बिल्ली को बचाने वाले को धर्म क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा।

बूचड़खाने में पशुओं की कत्ल करने वाले कसाई को पाप लगता है, तो पिंजरा पोल या गौशाला में निराधार पशुओं को पालने वालों को धर्म नहीं तो क्या होगा?

भूखे भिखारी के हाथ से रोटी छीनने वाले को पाप लगता है, तो उसे रोटी देने वाले को धर्म ही तो होगा।

चक्रवर्ती भरत महाराजा की आठ पाट तक के जैन राजाओं ने अयोध्या की समस्त जनता को सदा भोजन करा कर आठों राजा उसी भव में मोक्ष में गए थे। साधू की तरह व्रती या अव्रती श्रावक भी सुपात्र ही हैं।

सोना चाहे बाईस केरेट का हो या चौदह केरेट का या नौ केरेट का आखिर वह है तो सोना ही। इसी तरह जैनी चाहे वह साधू हो, व्रती श्रावक हो या अव्रती श्रावक। ये तीनों सुपात्र ही हैं।

माता-पिता अव्रती हैं, इसलिए इनकी भक्ति करने वालों को भी यदि पाप लगेगा। तो क्या धर्म माता-पिता को गाली

और कष्ट देने वालों को होगा?

साधर्मिकों की भक्ति करने से श्री संभवनाथ भगवान ने अपने तीसरे पूर्व भव में तीर्थंकर बनने का पुण्य उपार्जन किया था।

आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से राजा कुमारपाल ने श्रावक श्राविकाओं की भक्ति में 14 करोड़ रु. का व्यय किया था।

पहिले मांडवगढ़ में जैनों के 1 लाख परिवार रहते थे। बाहर से पधार हुए श्रावक को वे प्रति घर से 1 रुपया और 1 ईट भेंट देते थे। जिससे वह आगन्तुक श्रावक लखपति बन जाता था व लाख ईंटों से उसका निजी मकान भी बन जाता था।

बरातिओं को बढ़िया भोजन भी बेमोल करना और गुरुओं के दर्शनार्थ आए हुए श्रावकों से सादे भोजन का भी मोल लेना। यह कहां तक उचित माना जायेगा?

श्रावक भी सुपात्र है, इसीलिए तो सिर्फ 12.50 नये पैसे की कमाई वाला पुणिया श्रावक हमेशा एक श्रावक या श्राविका की समकित शुद्धि हेतु अपने घर भक्ति से निःशुल्क भोजन कराता था।

विद्युत-इलेक्ट्रिक साधन सजीव-सचित्त ही हैं

महाप्रज्ञजी याने बुद्धि के धणी प्रज्ञावान कह सकते हैं किन्तु इलेक्ट्रीक साधन के बारे में जो उत्सूत्र प्ररूपणा मान्यता प्रदान की है उसको जैन समाज, तेरापंथ को कभी नहीं बख्शेगा। मान्यता भेद अलग चीज है किन्तु उसको छुट-छाट बिना किसी आगम प्रमाण का हवाला दिए संघ के बीच खुला करना अलग वस्तु है। स्थानकवासी श्रमण संघ व मंदिर मार्गी में भी क्वचीत माईक वगैरे का उपयोग करने लग गये किन्तु उसको अचित्त कहने का दुःसाहस तो किसी भी माई के लाल ने आज तक नहीं किया था। श्रमण संघ ने तो माईक में बोलना पड़े तो 250 गाथा के स्वाध्याय की परंपरा भी आलोचना रूप में तय कर रखी है। याने पापभिरुता-पाप का डर है।

मात्र तेउकाय (अग्निकाय) ही नहीं बिजली के उत्पादन-उत्पत्ति-प्रारम्भ से अंत तक छाओं काय के जीवों की विराधना रही हुई हैं। साथ ही पंखे वगैरे चालु करने कराने में अनुमोदना व शिथिलता के पाप से कभी बच नहीं सकते कई बार तो कबुतर आदि पक्षियों की भी साक्षात् हिंसा पंखे से हो जाती है व करंट आदि लगने से स्वयं की आत्म विराधना का भय व पशु-पक्षी मनुष्य आदि भी करंट से मरने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

महाप्रज्ञजी कहते हैं कि 'माईक हो के घड़ी अपन उसको सचित्त नहीं मान सकते क्योंकि आगम के आधार से वे सिद्ध नहीं हो सकते' प्रज्ञावान महाप्रज्ञाजी विज्ञान के साधन अधुरे हो सकते हैं विज्ञान कभी सिद्ध नहीं भी कर सकें किन्तु आगम के अकाट्य तर्क व कई प्रमाण अपने पास मौजूद हैं। इसके आधार पर लाइट सचित्त हो तो सजीव ही है। अतः Solar cell drycell battery वगैरे से चलते साधन माइक A.C. पंखा T.V. वगैरे बिजली साधनों में अग्निकाय की उत्पत्ति विराधना माननी ही पड़ेगी और उसका उपयोग संयमी आत्मा को कभी भी कल्पे

नहीं जीवाभिगम सूत्र पन्नवणासूत्र आवश्यक व भगवति के कई प्रमाणों के साथ 'विद्युत प्रकाशनी सजीवता अंगे विचारणा' नामक पुस्तक पढ़कर मुनि यशोविजयजी म. जो अपने को अल्पज्ञ कहते हैं। किन्तु संपूर्ण पुस्तक पढ़कर आप स्वयं उनकी बुद्धिमत्ता व प्रज्ञा का संपूर्ण निर्णय कर सकेंगे। उन्होंने आगम प्रमाणों के करीब 50 प्रमाणों के साथ लाइट-की सजीवता को सिद्ध किया है। तथा अपने यहाँ तो वैसे भी हेतु गिज्जा अने आणागिज्जा हो प्रकार के पदार्थ है। सर्वज्ञ कथित आज्ञा जिनका प्रमाण न भी मिले तो आणागिज्जा के रूप में स्वीकार्य है। जैसे कोई कहता है कि ये मेरे पिता हैं तो आपको व मुझे दोनों को मानना पड़ता है। वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि दुनिया में हजारों पुरुष हैं यही तेरे पिता कैसे? नो आर्ग्युमेन्ट नो लेबोरेटरी टेस्ट। उपर चलता हुआ पंखा हों नीचे लाइट जल रही हो फिर मुंहपत्ति बांधने का अर्थ ही क्या रहा? बिना मुंहपत्ति के बोलने से कई अधिक वायुकाय के जीव पंखों के 1 चक्कर घूमने में साफ हो जाते हैं।

महाप्रज्ञजी इतना तो आप जानते ही होंगे कि देहउक्खं महाफलं व सहन करे वह साधु तथा दशवैकालिक में 'आयावयंति गिम्हेषु-हेमंतेषु अवाउड' याने गर्मी में आतायना लेना गर्मी सहन करना ठंडी में ठंड सहन करना इसका फिर अर्थ ही क्या रहेगा। अनुकुलता मिलेगी तो उससे विरले ही बच सकते हैं। अनुमोदना के पाप से बचा नहीं जा सकता चाहे बटन आपने चालु किया हो या गृहस्थी ने बटन हमारे लिए चालु नहीं किया यह भी व्यवहारिक नहीं आपको हिंसा का डर होगा तो व्याख्यान के माध्यम से आप श्रावक-श्राविका को मना भी कर सकते हैं।

महाप्रज्ञजी प्रभुपूजा आदि में हिंसा का बहाना आप करते हैं तो करोड़ों रु. के बनने वाले सभा भवन में आपका साथ क्यों? क्या छाती पर हाथ रखकर आप कह सकते हैं कि उसमें हमारा उपदेश नहीं ? तो भीखणजी के समय तो 1 भी सभा भवन नहीं था ! सुज्ञेषु किं बहुना।